रब्बा हुण की करिए

निर्देशक : अजय भारद्वाज

भाषा : हिन्दी/पंजाबी

अवधि : एक घंटा पांच मिनट

लुधियाना के अतालण गांव की एक अलसाई दोपहर में बरगद के पेड़ के नीचे बैठे चार बुजुर्ग उर्दू भाषा पर चर्चा में मसरूफ़ हैं। एक कहते हैं, *यह एक खूबसूरत भाषा है जिसकी अर्थछटा की बराबरी हिन्दी या पंजाबी नहीं कर सकती।* दूसरे के अनुसार, *यह हमारी अपनी भाषा है अरबी और पंजाबी से बनाई गई।* तीसरा, विभाजन को याद करते हुए बताते हैं, *जब विभाजन की घोषणा हुई तब हम तीसरी कक्षा में उर्दू का पाठ चौदह पढ़ रहे थे। सुनते ही हम सबने अपनी किताबें हवा में उछाल दीं ओर शोर मचाने लगे, उर्दू उड़ गया, उर्दू उड़ गया।* चौथे साथी ने जोड़ा, *हम समझते थे उर्दू मुसलमानों की कोई चीज़ है, नहीं जानते थे कि यह एक ज़बान है।*

आज बासठ सालों के बाद भी विभाजन की परछाई भारत उपमहाद्वीप पर छाई है। लोगों की व्यक्तिगत नियति और सांस्कृतिक जीवन पर अनगिनत तरीकों से अपना प्रभाव डालती है और उसके अनेक पहलुओं को उजागर करने को प्रेरित करती है। पर सवाल यह है कि एक पीढ़ी या एक समाज नरसंहार के दौर में नैतिक शून्यता के साथ सांस्कृतिक रूप से कैसे समझौता करता है?

निर्देशक अजय भारद्वाज ने बेहद संवेदनशीलता के साथ अपनी फ़िल्म *रब्बा हुण की करिए* में बुजुर्ग पीढ़ी की यादों के माध्यम से उस साझी ज़बान और पंजाब की जीवनशैली की परतों को खोलने की कोशिश की है जिसका 1947 में हिंसात्मक विभाजन कर दिया गया था। यह वृत्तचित्र समय के चक्रव्यूह से कुछ महत्वपूर्ण यादें समेट कर दर्शक के सामने प्रस्तुत करती है जिसमें एक साझे व्यापक क्षितिज की कमी पीढ़ियों को उद्वेलित करती रही है। लुधियाना, भटिंडा, पटियाला, मलेरकोटला के ग्रामीण क्षेत्रों से गुज़रती हुई यह फ़िल्म 'विभाजित पीढ़ी' के बीच आत्मविश्लेषण का एक भंडार खोलती है।

इस फ़िल्म में विभाजन से जुड़े स्मरणों को सुनाती हुई ग्रामीण पंजाब की 'अविभाजित' पीढ़ी के बीच एक साझी पीड़ा है- 1947 के नरसंहार को लेकर ग्लानि व अफ़सोस। यह एहसास कि 'मरने व मारने वाले उनकी आंखों के समाने तकलीफ़ भोग रहे थे', 'उन्हें उनकी करनी की सज़ा मिल रही थी।' एक पीढ़ी की पीड़ा, उनकी तकलीफ़ और उसकी भरपाई करने की गहन चाहत। यह एक ऐसी सोच है जिसमें आत्म-निरीक्षण का हौसला और हिंसा की निरर्थकता के बारे में बोलने का साहस मौजूद है और जो पृथक संदर्भों को साझी विरासत के तब्दील करने की ज़रूरत समझती है।

विभाजन पर मौजूद साहित्य कला और विमर्श में यह वृत्तचित्र इन अनौपचारिक वृत्तान्तों के ज़रिए एक नया और विशिष्ठ आयाम जोड़ती है। यह फ़िल्म यादों के झरोखों से विचारों को कुरेद कर सामने लाती है, पूर्व अविभाजित पंजाब के जीवन के साझे धागों को उजागर

करती है। और जो इस सच की अभिव्यक्ति है कि विभाजन हिंसा की पीड़ा हमारे आज को किस तरह परिभाषित करती है।

पंजाब के आपसी जुड़ाव और साझेपन का ताना बाना इस फ़िल्म में बड़ी प्रखरता के साथ दर्शाया गया है। मसलन, गदर आंदोलन से जुड़े बाबा भगत सिंह बिल्गा जो अब सौ वर्ष के हैं और उस दौर का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके मूल्य आज खतरे में हैं, अपनी एक अनमोल यादगार दिखाते हैं- आंदोलनकारी उद्यम सिंह की प्रिय पुस्तक, वारिस शाह रचित 'हीर' की प्रति जिसमें वे हिस्से रेखांकित किये गये हैं जहां हीर काज़ी से कुछ सवाल करती है। यह किताब उद्यम सिंह अपने साथ इग्लैंड की जेल लेकर गये थे जहां जलियांवाला बाग कांड के बाद जनरल ओ' डायर पर हमला करने के आरोप में उन पर केस चलाया जा रहा था। इस पुस्तक 'हीर' में सूफी और लोक परम्पराओं का भी खास संगम था।

विख्यात सूफी गायक, पूरन शाहकोटी के विचार में दोनों पंजाब आज भी साझी सांस्कृतिक डोर में बंधे हैं। वे कहते हैं- *वे हीर गाते हैं हम भी हीर गाते हैं। बालो माहिया हमारा व उनका साझा है। वे मीर आलम के घराने से संबंध रखते हैं जो ग्रामीण पंजाब की संगीत की संगीत परम्पराओं व सांस्कृतिक जीवन की खान है।*

रब्बा हुण की करिए का केंद्र बिन्दु हैं प्रोफेसर करम सिंह चौहान जो अपने भीतर साझे अतीत के विध्वंस होने का सदमा सहेजे हुए हैं पर फिर भी इंसानियत पर उनका भरोसा कायम है। 1947 में लाहौर के कालेज में फारसी पढ़ रहे करम सिंह उस दिन को नहीं भूल पाते जब वे भटिंडा लौटे और पाया कि मनसा स्टेशन का उर्दू में लिखा नाम मिटा दिया गया है।

उन्हें लगा जैसे बचपन की यादों का एक अनमोल हिस्सा उनसे छीन लिया गया है और गांव के पटवारी की बेगम शम्सुलनिसा के स्नेह की गर्माहट उनसे दूर हो गई हो। उनका मानना है कि दोनों तरफ सियासत ने लोगों को भड़काया और हिंसक बनने पर बाध्य किया। उन्होंने उसी संस्कृति को तहस-नहस कर दिया जिसका निर्माण उन्होंने अपने हाथों से किया था।

इस साझे अतीत का अभाव लुधियाना के सरमाला ज़िले के एक छोटे से सूफी दरगाह के सरपरस्त हनीफ़ मुहम्मद भी महसूस करते हैं। करम सिंह और हनीफ़ अविभाजित पंजाब की साझी ज़बान व संस्कृति का सजग उदाहरण हैं और विभाजित पंजाब की पृथक पहचान मानने-समझने के लिए अजनबी हैं।

फ़िल्म के एक बेहद मार्मिक दृश्य में करम सिंह मनसा के पास स्थित उस रेलवे लाईन के पास कलमा पढ़ रहे हैं जहां विभाजन के समय बड़ी संख्या में मुसलमानों का कत्ल हुआ था। जब तक करम सिंह जीवित रहे वे उन कत्ल लोगों की रूह की शांति के लिए तथा कत्ल करने वाले 'भटके' लोगों के उद्धार के लिए कलमा पढ़ते रहे। उनका मानना था कि इंसान दूसरों को तकलीफ़ पहुंचाते रहे हैं पर मानवता में विश्वास करने वाले हमेशा उनकी इस गलती पर आंसू बहाते रहेंगें।

करम सिंह इस साझेपन से अलग होकर कुछ भी कल्पना नहीं कर सकते थे, यही उनकी दुनिया थी। पर आने वाली पीढ़ियों के पास इस साझी विरासत का अभाव है और इसलिए दूसरों को दोषी मानना उनके लिए आसान हो जाता है।

इसी सोच में *रब्बा हुण की करिए* जैसी फ़िल्म का महत्व छिपा है। यह उस पीढ़ी का आजकल के पृथक व अलगावपूर्ण रवैये का सांस्कृतिक जवाब है जो सही-गलत की बहस में अक्सर दरकिनार हो जाता है।

आत्म निरीक्षण करना, अपनी गलती स्वीकारना व ग्लानि महसूस करना वह पड़ाव है जहां पीड़ित और पीड़ा देने वाला मिल सकते हैं। और जहां इस पीड़ा की याद मरहम लगाने और आगे बढ़ने के लिए पुल की भूमिका अदा करती है।

कानून और न्याय की प्रक्रिया अपना समय लेती हैं पर लम्बे दौर में समाज के सांस्कृतिक संसाधन ही निर्धारित करते हैं कि उसमें साझापन बरकरार रहेगा या दूसरा समझा जाने वाला हर पहलू उससे अलग कर दिया जायेगा तथा लम्बे समय से चले आ रहे आपसी जुड़ाव और साझेपन के धागों को तोड़ दिया जाएगा। आज के समय में गुजरात में हम ये अलगाववादी आयाम देख रहे हैं।

-चित्रा पद्मनाभन